



परीक्षा एवं विद्यार्थी मूल्यांकन

एक आलोचनात्मक दृष्टि

राजीव गुप्ता

एक महान पौराणिक साहित्य में गुरु द्रोणाचार्य अर्जुन को धनुष विद्या में सर्वश्रेष्ठ विद्यार्थी के रूप में स्थापित करने के लिए एकलव्य का अंगूठा दक्षिणा में मांग लेते हैं। परिणामस्वरूप एकलव्य की दक्षता छीन ली जाती है। साथ ही शिक्षक उच्च जाति के राज परिवार के सम्मुख अपनी नैतिकता का समर्पण कर देते हैं। पर कालान्तर में भारत की राज व्यवस्था गुरु द्रोणाचार्य को 'रोल मॉडल' के रूप में स्थापित कर देती है। समाजशास्त्र के विद्यार्थी के रूप में मुझे लगता है कि यह गाथा (1) प्रतियोगिता की प्रक्रिया को (गैर) हिंसक संघर्ष के निकट ले आती है (2) जातीय एवं वर्गीय समाजों में शिक्षा एवं दक्षता के निर्धारक जाति व वर्ग की विशेषताओं से सुनिश्चित होते हैं तथा (3) विद्यार्थी की उपलब्धि के मूल्यांकन के पैमाने शिक्षक अथवा परीक्षा की संस्थाएं निश्चित करने में प्रभुत्वशाली समूहों के हितों को ध्यान में रखती हैं और ऐसी प्रणाली निर्मित करती हैं जो पुरस्कार एवं दण्ड (सफलता/असफलता) को बाजारवाद से संबद्ध कर देता है।

लेखक ने 1958-59 में जब एक सरकारी विद्यालय में कक्षा एक में प्रवेश लिया तो मूल्यांकन के पूर्व शिक्षक के द्वारा विद्यार्थी को योग्य बनाने के लिए 'परिवार' का एक मूल्य के रूप में प्रयोग होता था। शिक्षक हाथ पकड़कर लेखन को सुन्दर बनाने की कोशिश में लगे रहते थे। गणित पढ़ाते-पढ़ाते अचानक पूछा जाता था 'कितने अट्टे 64'? और कक्षा में विद्यार्थी हाथ उठा देते थे। उत्तर देने में सर्वाधिक शीघ्रता बरतने वाले को पीठ पर धौल जमाकर शिक्षक शाबासी देते थे। और जिन्हें उत्तर नहीं आता था उनके लिए पीठ पर धौल चेतावनी बन जाता था। लगातार ऐसा होने पर परिवार के मुखिया को बुलाकर बच्चे पर ध्यान देने की सलाह दी जाती है। सभी विद्यार्थी चूंकि निम्न वर्ग के थे अतः प्रतियोगिता क्यों? और प्रतियोगिता किसके लिए? जैसे सवाल चेतना में उभरते नहीं थे। एक समावेशी कक्षा का सुखद अहसास उस विद्यालय में प्राप्त होता था। आज भी मेरे वे मित्र जो आठवीं कक्षा तक साथ पढ़े उस समावेशी रूप के कारण भावनात्मक जुड़ाव की अनुभूति देते हैं। कक्षाएं नियमित होना, पुस्तकों की संख्या कम होना और पारंपरिक खेलकूद के साथ शिक्षक का प्रत्येक विद्यार्थी पर ध्यान उस दौर के अध्ययन को मेरे जीवन की सर्वश्रेष्ठ सामाजिक पूंजी बनाता है। योग्यता, दक्षता, व्यक्तित्व, मूल्यांकन, प्रतियोगिता एवं परीक्षा जैसे प्रत्यय हाईस्कूल एवं इंटरमीडिएट कक्षाओं के दौरान उभरते थे पर उच्च शिक्षा (एम.ए.) के अन्त तक प्रतिद्वंद्वता का रूप ग्रहण नहीं करते थे।

शिक्षा का मूल उद्देश्य सामूहिक चेतना, सहिष्णुता एवं पारस्परिक सहयोग का भाव उत्पन्न करना था। परीक्षा में अंक कम अथवा अधिक आने पर हर प्रकार की प्रतिक्रिया होती थी। असफल हो जाने पर डांट एवं मार तक पड़ती थी पर इन सब का अन्त प्रेमचन्द के 'बड़े भाई साहब' के कथानक की तरह होता था। पाठ्यपुस्तकीय समझ, स्थानीय व सार्वभौमिक प्रकृति की सूचना एवं बहुस्तरीय ज्ञान के परिवेश का विद्यार्थी को हिस्सा बनाया जाता था और शिक्षक उसमें सक्रिय योगदान करते थे। आकलन का एक अन्य तरीका समाचार पत्रों एवं मौलिक पुस्तकों के पठन-पाठन पर केन्द्रित था। बी.ए. एवं एम.ए. में शिक्षक मौलिक पुस्तकों पर कक्षाओं में सामूहिक विमर्श पर बल देते थे, समाचार पत्रों में प्रकाशित मुख्य समाचारों एवं संपादकीय पृष्ठ के लेखों पर कक्षाओं में बहस होती थी। अंग्रेजी एवं हिन्दी भाषाओं की प्रखरता को, जो कि सामूहिक विमर्श का परिणाम होती थी, सराहा जाता था। आकलन के ये तरीके परीक्षाओं के इतर थे परन्तु निश्चय ही परीक्षा परिणामों को प्रभावित करते थे। शिक्षक इन समस्त क्रियाओं को जीवन आदत में समाहित करने पर बल देते थे। इन सबका परिणाम यह भी था कि 'रटना' सदैव हतोत्साहित होता था और 'कुन्जी' (पासबुक्स) का पाया जाना भर्त्सना का विषय बन जाता था। विद्यार्थी का आकलन इस दृष्टि से विद्यालय-परिवार संस्थाओं की सामूहिक व अन्तःनिर्भर भूमिकाओं पर केन्द्रित था। ये अन्तःनिर्भर भूमिकाएं शायद इसलिए जीवन्त थीं क्योंकि शिक्षा एवं सामाजिक संबंधों का बाजारीकरण नहीं हुआ था। तिमाही, छमाही एवं वार्षिक परीक्षाएं, बोर्ड की परीक्षाएं, विश्वविद्यालयों की वार्षिक एवं सेमेस्टर परीक्षाएं, ट्यूटोरियल्स, आन्तरिक आकलन (इन्टरनल एसेसमेंट) एवं सेमीनारस् के अतिरिक्त प्रतिदिन की पूछताछ विद्यार्थी के अनवरत विकास के द्योतक थे। साथ ही यदि विद्यार्थी किसी विशेष शैक्षणिक अभिरुचि को व्यक्त करता था तो शिक्षकों का समूह उस अभिरुचि को प्रोत्साहित करता था।

यह शिक्षा रोजगार प्राप्ति में सहायक थी परन्तु इसे 'रोजगार हेतु शिक्षा' कदापि नहीं कहा जा सकता था। इस आकलन में जिज्ञासा अधिक और भय कम था। सरकारी विद्यालय बनाम निजी विद्यालय की बहस केन्द्र में नहीं थी क्योंकि निजी विद्यालय लाभ उत्पादक उद्योग नहीं थे। इन निजी विद्यालयों का संचालन चैरिटेबिल संस्थाओं द्वारा होता था। एक और तथ्य की तरफ ध्यान देना आवश्यक है। मेरे विद्यार्थी जीवन (1958-73) में प्राथमिक विद्यालय से स्नातकोत्तर संस्थान तक अनेक स्वतंत्रता सेनानियों, राजनेताओं एवं सामाजिक कार्यकर्ताओं के भाषण सुनने के अवसर मिले, विद्यार्थी संघ के चुनावों में सहभागिता के अवसर मिले और विभिन्न विकास प्रक्रियाओं पर शिक्षकों के आलोचनात्मक विश्लेषण जानने के मौके मिले। शिक्षकों ने न केवल मौलिक पुस्तकों को पढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया अपितु उन पुस्तकों पर बहस करने पर बल दिया ताकि सही एवं गलत समझ के अन्तर को जाना जा सके।

मेरी दृष्टि में यही वह समूचा परिदृश्य है जहां विद्यार्थी 'मैं क्या था? क्या हूं और मुझे क्या होना चाहिए?' के प्रश्नों के उत्तर के साथ स्वयं का आकलन करता है। समाज एवं शिक्षक इन प्रश्नों के उत्तर विद्यार्थी की विभिन्न भूमिकाओं के परिणाम के सामाजिक संदर्भों के साथ देखकर आकलन करता है। परीक्षाओं का संस्थागत ढांचा परीक्षा में पूछे गए प्रश्नों के उत्तरों का तुलनात्मक मूल्यांकन शिक्षकों से करवाकर विद्यार्थी का आकलन करता है। रोजगार एवं सेवाओं का बाजार 'परीक्षा-प्रतियोगिता' एवं साक्षात्कार जैसा विधाओं के साथ विद्यार्थी का आकलन करता है। आकलन की ये समस्त प्रणालियां सफलता-असफलता, सही-गलत, अच्छा-बुरा, योग्यता-निम्नता, विशेषज्ञता-सामान्य के रेटिंग पैमाने निर्मित कर शैक्षणिक संस्तरण एवं शैक्षणिक विभाजन उत्पन्न कर देती है। यह आकलन उस परंपरागत आकलन से बिल्कुल भिन्न है जहां 'बहुत अच्छा' 'अच्छा', 'ठीक है', 'आता तो है पर और पढ़ो', 'थोड़ा ध्यान दोगे तो अच्छा कर लोगे', 'अपने में विश्वास पैदा करो' और 'कोई भी समस्या हो तो मुझसे (शिक्षक) कभी भी पूछ सकते हो' जैसे आकलन-प्रत्युत्तर विद्यार्थी को शिक्षा के प्रति हतोत्साहित नहीं करते थे।

शिक्षकों के द्वारा कक्षाओं में भिन्न-भिन्न योग्यताओं/कुशलता वाले विद्यार्थियों के समूह बनवाकर सामूहिक वार्तालाप करवाते थे ताकि विद्यार्थी ऊर्ध्वगामी गतिशीलता का अनुभव कर सकें। शिक्षक की इस नेतृत्वकारी भूमिका को यदि आकलन के संदर्भों के साथ जोड़ा जाए तो वास्तव में शिक्षा को एक जनतांत्रिक विधा के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इस प्रकार के प्रयास ने अनेक विसंगतियों के बावजूद प्रगतिशीलता, लोकतांत्रिक आन्दोलनों में सहभागिता,

धर्मनिरपेक्षता, सहिष्णुता एवं तार्किक प्रकृति के सामूहिक विमर्श को आधार दिए। कॉफी हाउस संस्कृति से पनपा बौद्धिकवाद एवं जन आन्दोलनों में विद्यार्थियों एवं शिक्षकों की सहभागिता इसका प्रमाण थे। शिक्षा के इस सापेक्षिक स्वायत्तशासी चरित्र से राजसत्ता का सजग हो जाना अनिवार्य था क्योंकि वर्गीय शासन कभी भी नहीं चाहेगा कि शिक्षा सामाजिक रूपान्तरण का माध्यम बने। 'रोजगार हेतु शिक्षा', शिक्षा का निजीकरण एवं बाजारीकरण एवं 'विद्यार्थी तथा शैक्षणिक संस्थाओं के आकलन की बाजारवादी पद्धतियां' राजसत्ता की वे कोशिशें हैं जिन्हें विश्लेषित किए जाने की जरूरत है। ये पद्धतियां आक्रामक अस्मिताओं को स्थापित कर रही हैं।

विद्यार्थी आकलन एवं शैक्षणिक संस्थाओं के आकलन को यदि इस दृष्टि से देखें तो एक खतरनाक तस्वीर हमारे सामने उभरती है। 'सबको शिक्षा' सामाजिक रूपान्तरण का केन्द्र है पर 'कैसी शिक्षा' का सवाल इस संदर्भ में महत्वपूर्ण है। उच्च जाति, उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग, अंग्रेजी माध्यम के 'फाइव' और 'सैविन' स्टार के समकक्ष निजी अन्तर्राष्ट्रीय/ग्लोबल विद्यालय/महाविद्यालय/विश्वविद्यालयों ने समूची शिक्षा प्रणाली को संस्तरणात्मक कर दिया। बाजार ने 'शैक्षणिक सफलता' एवं रोजगार सुनिश्चित करने वाले शैक्षणिक संस्थागत परन्तु 'समानान्तर बाजार' को सृजित कर दिया। परिणामस्वरूप विद्यार्थी के आकलन को या तो आधार बनाकर राज्य एवं गैर-सरकारी संगठन आकलन के मापक बनाने लगे। विषय की योग्यता एवं दक्षता का स्थान अंकों ने ले लिया और परीक्षाओं में वस्तुपरक प्रश्न एवं ऐसे विवेचनात्मक प्रश्न पूछे जाने लगे जिनके उत्तरों के लिए कुछ विशिष्ट सहयोगी पुस्तकों में दिए गए सूचनापरक ज्ञान को रटना अनिवार्य सा हो गया। इस प्रणाली का मुख्य उद्देश्य विद्यार्थी को मानव संसाधन में परिवर्तित करना था जो श्रम के द्वारा पूंजीपति एवं बाजार की शक्तियों के लिए पूंजी संकेन्द्रण में सहायक हो सके। निवेशक व उपभोक्ता के रूप में सक्रिय हो सके। और धीरे-धीरे कृषि एवं उत्पादन क्षेत्रों से सेवा क्षेत्र में जा सके। इस हेतु सफलता, कुशलता, प्रतियोगिता, व्यक्तिवादिता एवं भावनाशून्यता जिसे तार्किकतावाद की संज्ञा दी गई के मूल्यों को स्थापित करना आवश्यक हो गया। सफलता का उच्चतम स्तर प्राप्त करना उत्कृष्टता का संकेतक बन गया। शत प्रतिशत अंक प्राप्त करना, मैरिट में आना व्यक्तिगत उपलब्धि के रूप में बाजारवाद द्वारा स्वीकारा जाने लगा। इस हेतु 'रटना' अनिवार्य हो गया है। कुछ प्रश्नों के लिए गणितीय/वैज्ञानिक/प्रौद्योगिकीय तार्किकता भी आवश्यक बना दी गई।

इस आकलन ने विद्यार्थी के स्वभाविक व समूह केन्द्रित विकास को गौण कर दिया। दबावमूलक बाध्यताओं ने कुण्ठा, नैराश्य जैसी स्थितियों को विद्यार्थियों के एक बड़े समूह में उत्पन्न कर आक्रामकता एवं भावनात्मक हिंसा को जन्म दिया। ऐसी घटनाएं प्रकाश में आने लगीं जहां 90 प्रतिशत से अधिक अंक पाने वाली विद्यार्थी इस कारण आत्महत्या कर लेती है क्योंकि वह विद्यालय में सर्वश्रेष्ठ नहीं आ सकी। प्रवेश की विभिन्न परीक्षाओं को एक नियोजित तरीके से पाठ्यपुस्तकों के दायरे के बाहर कर दिया गया। आईआईटी, आईआईएम, सीपीएसटी, राष्ट्रीय विधि विद्यालयों (विश्वविद्यालयों), एआईट्रिपिलई आदि में सफलता प्राप्त करने हेतु 'कोचिंग सेण्टर्स' में अध्ययन लगभग अनिवार्य कर दिए गए। विद्यार्थी यदि पाठ्यपुस्तकों का गहन अध्ययन कर सीनियर सैकेण्ड्री में 95 प्रतिशत अंक प्राप्त कर आकलन की दृष्टि से योग्य के रूप में उभरता है पर उपरोक्त प्रवेश परीक्षाओं में सफलता प्राप्त नहीं कर पाता तो समूचा आकलन संदेहास्पद हो जाता है। जबकि कारण यह है कि उस विद्यार्थी ने 'कोचिंग सेण्टर' का सहारा नहीं लिया। रोजगार प्राप्ति के क्षेत्र में भी स्थिति ऐसी ही है। एक अभ्यर्थी संबद्ध विषय का गहन ज्ञान रखता है परन्तु रोजगार प्राप्त नहीं कर पाता क्योंकि उसके अंक अन्य अभ्यर्थियों की तुलना में कम हैं हालांकि अन्य अभ्यर्थियों के पास विषय का तुलनात्मक रूप से ज्ञान कम है। ये स्थितियां दर्शाती हैं कि शैक्षणिक उपलब्धियों को कहीं तो प्रवेश प्रक्रिया से भी संबद्ध नहीं किया जाता और कहीं ज्ञान की गहनता को प्रतिशत अंकों के सामने पराजय का सामना करना पड़ता है। आकलन की ये विसंगितियां वर्गीय धरातल को प्रस्तुत करती हैं।

'कोचिंग सेण्टर्स' में प्रवेश एक जटिल प्रक्रिया है। विद्यार्थी से इतना शुल्क लिया जाता है कि निम्न वर्गीय एवं ग्रामीण परिवेश से जुड़े विद्यार्थी इन 'सेण्टर्स' में 'अतिरिक्त सूचना/ज्ञान' जो कि प्रवेश हेतु अनिवार्य है, प्राप्त करने से वंचित हो जाते हैं। केन्द्रीय सरकार एवं राज्य सरकारों से संचालित विद्यालय पाठ्यक्रम पूरा करने की कोशिश में लगे रहते

हैं। वहां अतिरिक्त (सूचना/ज्ञान) प्राप्ति संभव नहीं हो पाती। भारी शुल्क वसूलने वाले निजी विद्यालय एक स्तर तक इस अतिरिक्त सूचना/ज्ञान को उपलब्ध करवाते हैं और साथ ही 'कोचिंग सेण्टर्स' से प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से भी जुड़ जाते हैं। समानान्तर पाठ्यपुस्तकें, पत्राचार से अतिरिक्त सूचना/ज्ञान उपलब्ध कराने का तंत्र तथा कक्षा आठ व कक्षा नौ से ही प्रवेश परीक्षाओं में सफलता के उद्देश्यों से प्रवेश ने शिक्षा को उपभाग की एक ऐसी वस्तु बना दिया है जहां शिक्षक को 'सर्विस प्रोवाइडर' एवं विद्यार्थी को उपभोक्ता बनाकर सक्रिय होने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

एक और संस्थागत विसंगति की चर्चा इस अवसर पर करना जरूरी है।

विद्यार्थी का आकलन भ्रम एवं यथार्थ के अन्तःविरोध से जुड़ गया है। विभिन्न पाठ्य मण्डल, विश्वविद्यालय एवं शैक्षणिक संस्थानों ने संबद्ध कक्षाओं के पाठ्यक्रम (सिलेबस) में या तो बदलाव नहीं किए हैं या फिर आंशिक बदलाव किए हैं। परिणामस्वरूप पाठ्यपुस्तकों एवं परीक्षा प्रणाली में ठहराव आ गए। इस ठहराव ने पासबुक के एवं गैर-गुणवत्तामूलक पुस्तकों, बाजारवाद से प्रभावित शोध पत्रिकाओं, परीक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रश्नों, परीक्षा के प्रश्नों में पुनरावृत्ति एवं नकल/अनुकरण करने की प्रवृत्तियों में तीव्र वृद्धि की। शिक्षकों ने भी इस ठहराव को चुनौती नहीं दी अपितु समर्पण कर दिया। कक्षाओं में शिक्षक-विद्यार्थी अन्तःक्रिया लगभग औपचारिकता बन गई। राजसत्ता (विधायिका), न्यायपालिका एवं व्यवस्थापिका के वर्गीय चरित्र के लिए यह अनुकूल था। न्यायपालिका ने कक्षाओं में 75 प्रतिशत उपस्थिति की अनिवार्यता के निर्णय देकर शैक्षणिक संस्थानों के प्रशासनिकीकरण में योगदान किया। इस समूचे परिवेश ने आकलन प्रक्रिया का यान्त्रिकीकरण किया। अंक लाने से आकलन का जुड़ाव नकल को प्रोत्साहित करता है। विद्यार्थी नेतृत्व एवं राजसत्ता इस तथ्य को समझ गए हैं।

विज्ञान के विषय, प्रयोगात्मक परीक्षाओं, भाषा, मानविकी, वाणिज्य, समाजविज्ञान एवं प्रबन्धन तथा प्रौद्योगिकीय/चिकित्सा विषयों के क्षेत्र में इस बाजार तंत्र के कारण 'रटना' अनिवार्य हो गया। इस तंत्र पर आधारित विद्यार्थी आकलन भ्रामक है और 'मैरिट' अब एक वर्गीय धोखा है। निम्न जाति, आदिवासी, गरीब, अल्पसंख्यक एवं ग्रामीण परिवेश तथा निम्न वर्गीय नगरीय परिवेश के विद्यार्थियों को इससे सर्वाधिक हानि हुई है। बाजार तंत्र का संस्थागत व गैर-संस्थागत रूप इन्हें अंक तो दिलवा देता है पर ऐसे विद्यार्थियों का बड़ा भाग न तो आलोचनात्मक चेतना के हथियार से लैस हो पाता है और नहीं रोजगार के अवसरों की प्राप्ति कर पाता है। राज्य इसका लाभ उठाकर शिक्षक एवं विद्यार्थियों से विमर्श किए बिना परीक्षा प्रणाली में बदलाव कर देता है, सैमेस्टर प्रणाली, क्रेडिट सिस्टम जैसे पश्चिमी प्रारूपों को लागू करने के निर्देश देता है। साथ ही पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तकों में स्वप्रेरित बदलाव कर (समान पाठ्यक्रम की चर्चा कर) शैक्षणिक सामाजीकरण को मतारोपण में बदल देता है। निजी विद्यालय/महाविद्यालय/विश्वविद्यालय एवं नव्य उदारवादी अर्थवाद से प्रभावित शिक्षाविद् इस समूचे परिदृश्य को गुणवत्ता मूलक शिक्षा एवं अर्थहीन शिक्षा की बहस में बदल देते हैं। यह स्थिति विद्यार्थी आकलन से उभरी श्रेष्ठता को उच्च वर्ग/उच्च जाति एवं निम्नता को निम्न वर्ग/निम्न जाति की तरफ मोड़ देती है। श्रम बाजार में योग्यता आकलन पर केन्द्रित प्रतियोगिता को इस संदर्भ में मूल्यांकित करने की आवश्यकता है।

एक आखिरी तर्क और पूंजीवादी लोकतंत्र भले ही समानता, न्याय जैसे मूल्यों का समर्थन करे परन्तु यह 'अल्पतंत्र' के दर्शन से संचालित होता है। सरकारी एवं निजी शैक्षणिक संस्थानों में विद्यार्थी आकलन के विषमतामूलक पैमाने तथा विद्यार्थी द्वारा स्वयं मूल्यांकन, उसका विद्यार्थी साथियों, शिक्षकों एवं परिवारी जनों द्वारा मूल्यांकन एवं अन्ततः समाज के विभिन्न हिस्सों द्वारा उसका मूल्यांकन जिस 'आकलन संरचना' को स्थापित करती है और गति देती है वही 'अल्पतंत्र' की वैधता को लोकतांत्रिक समाज में अर्थपूर्ण बना देता है। शिक्षा असमानता को वैधता देने का उपकरण है का तर्क विद्यार्थी आकलन की प्रणाली से प्रभावित हो जाता है। ◆

लेखक परिचय: राजस्थान विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग में प्रोफेसर पद से सेवानिवृत्त हुए हैं। शिक्षा एवं सामाजिक मुद्दों पर सक्रिय हैं।